Introduction

# : प्राक्कथन :

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M.S. University of Baroda

विनोदकुमार शुक्ल की एक पंक्ति है कि घड़ी देखना समय देखना नहीं होता। तो समकालीनता को घड़ी या कैलेण्डर से तय करना मुमकिन नहीं है। एक रचनाकार के लिए समकालीनता अपने समय में रहने और रचना करने भर की सुविधा नहीं हो सकती। समकालीनता को अर्जित करना होता है। अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करते हुए, प्रत्येक रचनाकार को अपनी समकालीनता उपलब्ध करनी होती है। यहाँ एक और बात भी गौरतलब है कि समकालीनता सिर्फ रचना की अन्तर्वस्तु से जुड़ा हुआ प्रश्न भी नहीं है। यह शिल्प और भाषा का भी प्रश्न है। शिल्प और भाषा में पुरानेपन के साथ एक नयी अंतर्वस्तु को लेकर की गई रचना समकालीनता की भ्रांति को रचते हुए भी समकालीन नहीं हो सकती। केदारनाथ सिंह की समकालीन कविता में समय का ऐसा ही रसायन हमें प्राप्त होता है – "आपको लगेगा जैसे ब्रह्मसूत्र / पढ़ रहा है मुक्तिबोध को / और शाकुंतल का हिरन / कुछ कह रहा है पद्मावत के तोते से / और बीजक का कोई पद / किसी पोथी से छिटककर / मनु से बहस कर रहा है / और रासो की कोई सबसे पुरानी प्रति / धीरे-धीरे गुनगुना रही है / किसी युवा कवि की अप्रकाशित कोई कविता।"

यह मै इसलिए कह रही हूं कि मेरे शोध-प्रबंध के आलोच्य तीन उपन्यास हैं – राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल), मुझे चाँद चाहिए (सुरेन्द्र वर्मा) और काशी का अस्सी (काशीनाथ सिंह)। इनमें से प्रथम उपन्यास साठोत्तरी समय का है और शेष दो का शुमार समकालीन उपन्यासों में कर सकते हैं, हालांकि तीनों उपन्यास कि अन्तर्वस्तु ने अपने समय की समकालीनता को एक नये भाषिक-मुहावरे के साथ अभिव्यंजित कर दिया है। "राग दरबारी" और "काशी का अस्सी" दोनों की भाषिक-संरचना में व्यंग्यात्मकता का पुट सविशेष श्रुतिगोचर होता है। "मुझे चाँद चाहिए" में भी व्यंग्य है पर उसकी धारा अपने सूक्ष्म रूप में प्रवाहित हो रही है। व्यंग्यात्मक साहित्य की और मेरी विशेष रूचि रही है क्योंकि हमारे परिवेश में व्याप्त सभी प्रकार की विषमता मुझे कहीं-न-कहीं दंशित करती रही है। "मुझे चाँद चाहिए" की और आकर्षित होने का कारण नितांत वैयक्तिक है। मेरी मंझली बहन कीर्तिदा देसाई जब एफ. वाय.

बी. ए. क़ी छात्रा थी तब उसने इस उपन्यास को पढ़कर, दो-चार बार पढ़कर, साहित्य और कला-जगत की कुछेक पठनीय कृतियों की सूची तैयार की थी, जिसमें चेखोव, ब्रेख्त, कालिदास आदि पाश्चात्य एवं पौरात्य साहित्य के दिग्गज साहित्यकारों की अनेकानेक रचनाओं का, नाटकों का, उल्लेख था। मैं अभिभूत थी। इस उपन्यास ने अपनी संदर्भ-संपन्नता के कारण मुझे चकित कर दिया।

यहाँ एक बात मैं स्पष्ट कर दूं। हमारे घर-परिवार में कला-साहित्य के संस्कार शुरू से रहे हैं। मेरे दादा पद-रचना करते थे। मेरे पिता भी अच्छे रचनाकार हैं। हम कला को उसके विस्तृत परिप्रेक्ष्य में, उसकी बहु-आयामिता में, देखने के अभ्यस्त रहे हैं। अतः साहित्य के साथ कला के अन्य रूपों से भी हम तीनों बहनों का जुड़ाव रहा है। मैंने भरत-नाट्यम् और फैशन-डिजाइन किया हुआ है, साथ ही इतिहास और हिन्दी में बी.ए. और एम.ए.। मंझली कीर्तिदा ने "क्लीनिकल सायकोलोजी में "एम. ए." करते हुए पर्फोमिंग आर्ट्स से नाट्यशास्त्र और एफ. टी. आई. आई. (पूणे) से "स्क्रिप्ट राइटिंग" का कोर्स किया हुआ है। छुटकी पायल ने जर्मन भाषा-साहित्य में एम.ए. करते हुए भरत-नाट्यम् किया है। अभिप्राय यह कि हमारा परिवार कला और साहित्य की बहुआयामिता में विश्वास रखता है। मेरी ममा ने हिन्दी और पुरातत्व (Archaeology) में एम.ए. करते हुए हिन्दी, गुजराती, मनोविज्ञान, भूगोल जैसे विषयों को उच्च-माध्यमिक स्तर पर पढ़ाया है। मेरे पिता हिन्दी के प्रोफेसर रहे हैं और हमारे पास अपनी एक समृद्ध-संपन्न लायब्रेरी है। साहित्य, इतिहास, कला, नाटक, फिल्म, राजनीति तथा विभिन्न विषयों की चर्चा हमारे घर-परिवार में होती रही है। अतः एक विस्तृत एवं व्यापक चेतना हमें विरासत में मिली है इस बात का हमें गौरव है।

मैंने अपने अध्ययन के लिए तीन उपन्यासों को चुना है – "राग दरबारी", "मुझे चाँद चाहिए" तथा "काशी का अस्सी" जो क्रमशः सन् 1968 ई., 1993 और 2002 के उपन्यास हैं। "राग दरबारी" में निरूपित समय स्वाधीनता के उपरांत लगभग सन् 1965 तक का है। "मुझे चाँद चाहिए" और "काशी का अस्सी" समकालीन उपन्यास हैं और उनमें निरूपित समय भी कमोबेश वही है। "राग दरबारी" ग्रामीण पृष्ठभूमि का उपन्यास है, पर प्रकारान्तर से उसमें समूचे देश की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों को उकेरा गया है। "मुझे चाँद चाहिए" में

शाहजहांपुर के कस्बाई वातावरण से लेकर महानगर दिल्ली तथा फिल्मनगरी मुंबई का परिवेश उपलब्ध होता है। कनु सान्याल के उपन्यास "कनु गोवारेर गली" की भांति, या जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के उपन्यास "मुर्दाघर" की भांति किसी शहर-विशेष के एक विस्तार (Locale) को उपन्यास के केन्द्र में रखा गया है "काशी का अस्सी" में वाराणसी या बनारस या काशी का एक महत्वपूर्ण जीवन्त "लोकल" है – बनारस का "अस्सी"। असगर वजाहत भले कहते हों कि जिसने लाहौर नहीं देखा वह जन्मा ही नहीं है, पर हम तो कहेंगे कि जिसने "काशी" का अस्सी नहीं देखा, उसका भारभूमि में जन्म लेना अकारथ है।

तीन अलग-अलग कारणों से ये उपन्यास मुझे प्रिय हैं। "राग दरबारी" की व्यंग्यात्मक भंगिमा मुझे शुरू से ही आकर्षित करती रही है। उसमें निरूपित शिवपालगंज गांव, वहां के लोग, उनका गंजहापन इन सबको शुक्लजी ने जिन व्यंव्यात्मक तेवरों के साथ उजागर किया है पढ़ते ही बनता है। चार सौ से अधिक पृष्ठों का बृहत्काय उपन्यास है, पर पहले वाक्य से लेकर अंतिम वाक्य तक व्यंग्य-वक्रता और व्यंग्य-विदग्धता से भरपूर है। स्वाधीनता के उपरान्त राजनीति की काली अंधी छाया की लपेट में गांव भी आ गये हैं। अब गाँव सुमित्रानंदन पंत वाला "अहा! ग्राम्यजीवन भी क्या है!" वाला नहीं होकर हरामीपन और कांइयांपन का अड्डा बन गए हैं। आज़ादी ने गांव की उस निर्दोषता और मासूमियत को लील लिया है। "राग दरबारी" उसके दर्द का आख्यान है, कहीं मखौल उड़ानेवाला भी। परंतु राजकपूर के हास्य की भांति उसमें कहींतेज़-तर्रार दर्द के पंजे और नाखून को महसूसा जा सकता है। सचमुच में यह "व्यंग्य का अनोखा प्रतिमान" है।

"मुझे चाँद चाहिए" एक सर्वांग-पूर्ण कलाकृति है। जैसे महाकाव्यों में दो प्रकार मिलते हैं – जातीय जीवन का महाकाव्य (Epic of growth) और कलात्मक महाकाव्य (Epic of Arts)। "महाभारत प्रथम कोटि का उदाहरण है तो "कामायनी" दूसरे का। उस तरह यदि हम उपन्यास को दो कोटियों में विभक्त करना चाहें तो "गोदान" प्रथम कोटि में आयेगा तो हमारा आलोच्य उपन्यास "मुझे चाँद चाहिए" दूसरी कोटि में आ सकता है। प्रस्तुत उपन्यास में कला, साहित्य, नाटक, कविता, रंगमंच इत्यादि के इतने महीन और सूक्ष्म ब्यौरे मिलते हैं कि उसे "संदर्भ-समृद्धि" का

उपन्यास सहजतया-असंदिग्धतया कहा जा सकता है। सुरेन्द्र वर्मा वैसे तो हिन्दी में नाटककार के रूप में अपनी पहचान बना चुके हैं, परंतु उनकी अक्षय-किर्ति का आधार यह उपन्यास होगा, ऐसा तो शायद उन्होंने भी नहीं सोचा था। इस उपन्यास में मुझे जो सबसे ज्यादा अच्छा लगा, वह है उसकी नायिका वर्षा वसिष्ठ का संघर्ष-कामी व्यक्तित्व। कुछ आलोचकों ने शिवानी कृत "कृष्णकली" की कली को लेखिका की "लौह-संकल्पिनी मानस-संतान" कहा है, परंतु सचमुच की "लौह-संकल्पिनी मानस-संतान" के दर्शन वर्षा वसिष्ठ में ही किए जा सकते हैं। शाहजहांपुर जैसे कस्बाई वातावरण स मध्यवर्गीय या कहिए निम्न-मध्यवर्गीय दकियानुस संस्कारों को तिलांजलि देते हुए एन.एस.डी. (National School of Drama) के कठिनतम पाठ्यक्रम के चक्रव्यूह को भेदकर वहां की रिपर्टरी की नंबर वन कलाकार बनना और उसके बाद फिल्मनगरी मुंबई जाकर प्रथम कक्षा की हीरोइन बनते हुए "होलीवुड" तक अपनी अभिनय-क्षमता के झण्डे गाड़ना उसके संघर्ष-कामी व्यक्तित्व का परिणाम है। कुछ लोगों के मतानुसार प्रारंभिक संघर्ष के बाद वर्षा सफलता के एक के बाद एक शिखर सर करती गयी है और उसकी इस बाद की सफलता में संघर्ष की अधिक कशिश नहीं है। परंतु जिन्होंने इस उपन्यास की आलोचनाओं के उपरान्त मूल उपन्यास को भी आधन्त पढ़ा है वे इससे सहमत नहीं हो सकते। वर्षा का प्रारंभिक संघर्ष जहां बाह्य है, वहां उसका बाद का संघर्ष आंतरिक और मानसिक है।

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने इस उपन्यास के लेखन मे अपने नाट्यशास्त्रीय ज्ञान का भी पूरा उपयोग किया है। नाटक और रंगमंच का उनका अनुभव यहां रंग लाया है, अतः जो नाट्यधर्मी हैं, नाटक और रंगमंच के जीव हैं, उनके लिए भी यहां बहुत कुछ है। दिल्ली स्थित एन. एस. डी. और उसकी नाट्यधर्मिता यहाँ भलीभाँति उजागर हुई है। उपन्यास के तृतीय अंश में मोहमयी मुंबई नगरी और फिल्म-जगत तथा उसकी दुनिया और उसके दांवपेच, फिल्मी गोशिप तथा पिली पत्रकारिता (Yellow Journalism) से पाठक रूबरू होता है। इस तरह कला-जगत के लोगों के लिए उपन्यास अत्यन्त आस्वाध एवं पठनीय बन पड़ा है।

तीसरा उपन्यास है – "काशी का अस्सी"। वरुणा और "अस्सी" के बीच बसा होने के कारण "वाराणसी" (वरुणा + अस्सी) हुआ। उसका एक पुराना नाम

"काशी" भी है। वाराणसी से ही बनारस हुआ है। "रांड सांड सीड़ी संन्यासी उनसे बचे सो सेवे काशी" यह उक्ति तो जग-प्रसद्ध है। यह कबीर और तुलसी का नगर; भारतेन्दु, प्रसाद और प्रेमचंद का नगर। भारत की राजधानी भले ही दिल्ली है। पर सैंकड़ों वर्षों से हमारी सामाजिक – धार्मिक – राजनीतिक – साहित्यिक, छात्रिक गतिविधियों का केन्द्र तो बनारस ही रहा है। कभी यह हिन्दी साहित्य की गतिविधियों का भी केन्द्र रहा है। पंडित मदनमोहन मालविया और बी. एच. यू. (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) एक दूसरे के पर्याय हो चुके हैं। बनारस धर्म, शास्त्र और ज्ञान का अविकल स्त्रोत रहा है। यहां का "काशी विश्वनाथ" का मंदिर प्रसिद्ध बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक हैं। यह काल-भैरव, संकट-मोचन और भगवान शंकर की नगरी है। करोड़ों-करोड़ों हिन्दुओं की आस्था का केन्द्र। काशीनाथ सिंह का उपन्यास "काशी का अस्सी" इसीको केन्द्र में रख कर लिखा गया है। यहां के लोग, यहां की गलियां, पान और चाय की दुकानें, बारहों घण्टों चलने वाली बहसें, यहां के अड्डेबाज, यहां के पहलवान, घूमते विलायती जोड़े, पंडे-पुरोहित – नाविक, हजारों मंदिर, दशियों घाट, यहां का दिव्य "निबटान", बोली ठोली, गाली-गलौज़ और सबसे ऊपर बनारसी रंग इन सबको केन्द्र में रखकर यह उपन्यास लिखा गया है। उपन्यास क्या है, एक चलता फिरता-गरियाता-चिल्लाता थियेटर है।

अतः जब हिन्दी से एम. ए. किया तब इन उपन्यासों पर शोध करने का विचार मन में रम रहा था। कथावस्तु, चरित्र या समस्याओं को लेकर तो कई काम हुए हैं। कई शोध-प्रबंधों में एक या दूसरे बहाने से इन उपन्यासों की समीक्षाएं भी हुई हैं। "राग दरबारी" पर तो जोधपुर विश्वविद्यालय के डॉ. नंदलाल कल्ला का शोध-कार्य है। हिन्दी के कई नारी-विमर्श-केन्द्रित शोध-प्रबंधों में "मुझे चाँद चाहिए" पर भी विचार-विमर्श हुआ है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास "इदन्नमम" के संदर्भ में भी इस उपन्यास की चर्चा हुई है। "काशी का अस्सी" पर पत्र-पत्रिकाओं में पर्याप्त चर्चा हुई है। परंतु इन उपन्यासों को लेकर भाषा या शिल्प या भाषिक-संरचना की दृष्टि से कोई कार्य हुआ नहीं है। अतः उसीको लेकर कार्य करने की इच्छा जाग्रत हुई।

अध्ययन-काल से मेरा विचार डॉ. शन्नो पांडेय के मार्गदर्शन में कार्य करने का था, क्योंकि हमारे सम्बन्ध अध्यापिका-छात्रा वाले कम सख्यता के ज्यादा थे

बिलकुल "मुझे चाँद चाहिए" की वर्षा वसिष्ठ और अंग्रेजी की लेक्चरर मिस दिव्या कत्याल जैसे – फ्रेण्ड, फिलोसोफर एण्ड गाईड। परंतु तब तक वह पी-एच. डी. की मार्गदर्शिका नहीं हुई थी। उनकी वह प्रक्रिया प्रोसेस में थी। अतः उन्होंने सलाह दी कि फिलवक्त मैं अपना नामांकन डॉ. शैलजा भारद्वाज के अंतर्गत करा दूं और फिर उनके मार्गदर्शक हो जाने पर नामांकन स्थानांतरित कर दिया जायेगा। उन दोनों में भी मैत्री-सम्बन्ध थे। अतः चेइन्ज करते किसी प्रकार की कड़वाहट की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। अतः सर्वप्रथम मेरा नामांकन डॉ. शैलजा भारद्वाज के अंतर्गत हुआ। विषय रखा गया – "हिन्दी की उपन्यासत्रयी – राग दरबारी, मुझे चाँद चाहिए तथा काशी का अस्सी – का भाषिकसंरचना की दृष्टि से अध्ययन।"

बाद में अनुकूल समय आने पर मेरा पुनर्नामांकन डॉ. शन्नो पांडे के अंतर्गत हो गया, परंतु उसके बाद हमारा परिवार बड़े मुश्किल दौर से गुजरा। सन् 1998 में मेरे पापा का एक बहुत बड़ा अकस्मात हो चुका था। हिन्दी साहित्य अकादमी (गुजरात) के किसी कार्यक्रम से वे अहमदाबाद से बड़ौदा आ रहे थे तब बारेजा (अहमदाबाद से 20 कि.मी. दूर) के पास यह अकस्मात हुआ था। उस समय उनकी आधी शक्तियां क्षीण हो गई थीं। मेरे नामांकन के कुछ समय बाद उनको "हार्ट एटेक" के कारण बाय-पास सर्जरी करवानी पड़ी। खैर, यह मुश्किल दौर भी टल गया।

शोध-प्रविधि और प्रक्रिया से मैं भलीभांति वाकिफ़ थी क्योंकि "रुकोगी नहीं राधिका" (उषा प्रियंवदा) की राधिका की भाति मैं भी काफी समय पापा की "लैब" में बिताती थी। पापा अपनी लायब्रेरी को "लैब" कहते हैं। अतः अनेक प्रकाशित शोध-प्रबंधों को देखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मैंने अपना यह कार्य शोध-अनुसंधान विधि के तहत करने का यत्न किया है।

काफी अध्ययन, चिंतन, मनन, विमर्श के उपरान्त लेखन की प्रक्रिया शुरू हुई। मैंने अपने इस शोध-प्रबंध को समुचित न्याय देने हेतु निम्नलिखित सात अध्यायों में विभक्त किया है –

(1) प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश

(2) द्वितीय अध्याय : आलोच्य उपन्यासों की कथ्य-चेतना

(3) तृतीय अध्याय : 'राग दरबारी' की भाषिक-संरचना

(4) चतुर्थ अध्याय : 'मुझे चाँद चाहिए' की भाषिक-संरचना

(5) पंचम् अध्याय : 'काशी का अस्सी' की भाषिक-संरचना

(6) षष्ठ अध्याय : आलोच्य उपन्यासों में नवीन भाषाभिव्यंजना

(7) सप्तम् : उपसंहार।

प्रथम अध्याय "विषय-प्रवेश का है। हमारा शोध-कार्य ऐसे तीन उपन्यासों के संदर्भ में है जो भाषिक-संरचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह कतई नहीं कि ऐसे दूसरे उपन्यास नहीं है। यहां प्रश्न केवल चयन का है। "Micro-Research" की दृष्टि से अधिक उपन्यासों को न लेते हुए केवल तीन उपन्यासों पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। ये तीन उपन्यास हैं – "राग दरबारी" (श्रीलाल शुक्ल, सन् 1968), "मुझे चाँद चाहिए" (सुरेन्द्र वर्मा, सन् 1993) और "काशी का अस्सी" (काशीनाथ सिंह, सन् 2002)। इन उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन "भाषिक-संरचना" को केन्द्र में रखते हुए किया गया है। अतः प्रस्तुत अध्याय में हमने निम्नलिखित मुद्दों की सविशेष चर्चा की है – हिन्दी उपन्यास के विकास की अति-संक्षिप्त रूपरेखा, भाषा की परिभाषा, उपन्यास की भाषा, हिन्दी गद्य का विकास, उपन्यास की भाषा के विभिन्न स्तर, उपन्यास और यथार्थ और भाषा तथा भाषिक-संरचना से हमारा क्या तात्पर्य है, आदि-आदि।

हमारे शोध-कार्य की विधा है उपन्यास। अतः अध्याय के प्रारंभ में उपन्यास के विकास की अति-संक्षिप्त रूपरेखा को प्रस्तुत करने का हमारा उपक्रम रहा है। अति-संक्षिप्त इसलिए कि अनेक शोध-प्रबंधों में इस मुद्दे को विशेष रूप से निबद्ध किया जाता है। अतः उपन्यास के केवल महत्वपूर्ण पड़ावों और सीमाचिह्न रूप उपन्यासों की चर्चा यहां हुई है। उपन्यास-त्रयी की भाषिक-संरचना के संदर्भ में शोध-प्रबंध अग्रसरित होगा, अतः भाषा से जुड़े हुए कुछ मुद्दों की पड़ताल भी यहां हुई है। भाषा की परिभाषा के उपरान्त उपन्यास की भाषा पर भी दृष्टिपात किया गया है। शैली की दृष्टि से भाषा के दो रूप हमें मिलते हैं – पद्य और गद्य। उपन्यास की तमाम-तमाम परिभाषाएं यह उदघोषित करती हैं कि उपन्यास गद्य की विधा है। यह उपन्यास का एक व्यावर्तक लक्षण है। यहां उपन्यास प्राचीन कथा-साहित्य से भिन्न पड़ता है। पहले

कथा महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में भी होती थी। किन्तु अब स्पष्ट हो गया है कि पद्य में आख्यान लिखे जाते हैं, उपन्यास नहीं। यह भी एक सुविदित तथ्य है कि सभी भाषाओं में जब गद्य चिंतन-मनन, विचार-विमर्श, विश्लेषण-वितर्क आदि के लिए सक्षम अवस्था को प्राप्त हुआ, तभी उपन्यास का उद्भव हुआ। फलतः हिन्दी में गद्य के उद्भव और विकास पर भी कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है। उपन्यास में जो गद्य प्रयुक्त होता है, उसके भी कई-कई स्तर होते हैं, मसलन स्वयं उपन्यासकार की भाषा, क्योंकि अनेक स्थानों पर लेखक अपना स्वयं का विश्लेषण, विवरण और वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसे हम लेखकीय भाषा कह सकते हैं। वह पूरे उपन्यास में एक-सी हो सकती है। किन्तु जहां कथोकथन होंगे वहां पात्रों की भाषा आयेगी जो उनकी पृष्ठभूमि और अवस्था और परिवेश के अनुरूप होगी। शिक्षित एवं नगरीय पात्रों की भाषा का स्तर दूसरे प्रकार का होगा। उसमें लिंग, वय, जाति, संप्रदाय, धर्म, व्यवसाय आदि कारक भी हो सकते हैं। कई बार एक ही लेखक की भाषा में भी भाषा के कई रूप मिलते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि हम शैलेश मटियानी के उपन्यासों को लेते हैं तो उनके "हौलदार", "चिट्ठीरसैन", "चौथी मुट्ठी" आदि कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधृत उपन्यासों की भाषा एक प्रकार की है; तो "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "बोरीवली से बोरीबन्दर तक" तथा "कबूतरखाना" आदि की भाषा पर बम्बइया-बोली का प्रभाव है; "छोटे-छोटे पक्षी", "आकाश कितना अनंत है" आदि की भाषा का एक तीसरा ही स्तर है; तो "बर्फ गिर चुकने के बाद" में उन्होंने "एब्सर्ड शैली" का प्रयोग किया है। भाषा के इन विभिन्न स्तरों की पड़ताल आलोच्य उपन्यासों के संदर्भ में की गई है। उपन्यास यथार्थ की विधा है, जैनेन्द्र को छोड़कर प्रायः सभी औपन्यासिकों तथा आलोचकों ने इस तथ्य को अंगीकृत किया है। अतः प्रस्तुत अध्याय में उपन्यास और यथार्थ तथा यथार्थ के कारण उसकी भाषिक-संरचना में क्या फरक पड़ता है उसका विश्लेषण आलोच्य उपन्यासों के आलोक में देखने का एक संनिष्ठ प्रयास किया है। भाषिक-संरचना से हमार क्या तात्पर्य है और उसमें हम किन-किन उपादानों को निकष बनायेंगे उसकी भी ब्यौरेवार चर्चा यहां हुई है।

अध्याय के सिंहावलोकन एवं समग्रावलोकन के उपरान्त उसके आधार पर समूचे अध्याय से निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं और इस प्रक्रिया को प्रायः सभी

अध्यायों में दोहराया गया है। अध्याय के अन्त में संदर्भानुक्रम प्रस्तुत है। इस विधि का प्रयोग टंकणकार की सुविधा को ध्यान में रख कर किया गया है।

द्वितीय अध्याय में आलोच्य उपन्यासों की कथ्य-चेतना को निरूपित करने का उपक्रम रखा है, क्योंकि यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि उपन्यास की कथावस्तु ही तय करेगी कि उसमें कैसे पात्र होंगे, उनकी पृष्ठभूमि क्या होगी, उनका देशकाल – वातावरण – क्या होगा, उनका वैचारिक धरातल कैसा होगा और इन सबके परिणाम-स्वरूप उसकी भाषिक संरचना किस प्रकार की होगी। अतः प्रस्तुत अध्याय में "राग दरबारी", "मुझे चाँद चाहिए" तथा "काशी का अस्सी" इन तीनों उपन्यास की कथ्य-चेतना को उकेरा गया है।

तृतीय अध्याय में श्रीलाल शुक्ल द्वारा प्रणीत 'राग दरबारी' व्यंग्यात्मक उपन्यास की भाषिक-संरचना को विविध उपादानों तथा मानदण्डों के तहत जांचने-परखने का प्रयास किया गया है। जिन विविध उपादानों को लक्षित करके "राग दरबारी" उपन्यास का भाषिक-संरचना की दृष्टि से विश्लेषण होगा उनमे निम्नलिखित उल्लेख्य हैं –

(1) चरित्र-सृष्टि और भाषिक-संरचना,

(2) वातावरण या देशकाल के निर्माण में भाषिक-संरचना का योग,

(3) ग्रामीण शब्दावली,

(4) शब्द-विचार

(5) वाक्य-विचार

(6) प्रोक्ति

(7) संदर्भ-संपन्नता

(8) उद्धरण,

(9) कहावत-मुहावरे

(10) सूक्तियां / व्यंग्योक्तियां,

(11) शब्द-सहचयन, (Word-Association)

(12) प्रसंग-सहचयन (Event-Association)

(13) कथानक-विधि

(14) गाली-प्रयोग

(15) भाषाशैली आदि-आदि।

इन विश्लेषणात्मक मुद्दों के तहत "राग दरबारी" उपन्यास की भाषिक-संरचना को परीक्षित करने का उपक्रम यहां रहा हैं।

चतुर्थ एवं पंचम् अध्याय में भी उपर्युक्त उपादानों की सहायता से क्रमशः "मुझे चाँद चाहिए" तथा "काशी का अस्सी" उपन्यास की भाषिक-संरचना को अध्ययन के केन्द्र में रखा गया है। "मुझे चाँद चाहिए" में व्यंग्योक्तियों के स्थान पर सूक्तियों और चिंतन-कणिकाओं का आधिक्य रहेगा, क्योंकि उसका रूपबंध मनोवैज्ञानिक प्रकार का है। अलग अलग रूपबंधों के कारण उपर्युक्त मुद्दों में आवश्यकत्तानुसार कुछ परिवर्तन भी किए गए हैं, जिनको अनुक्रमणिकामें विधिवत् दर्शाया गया है।

छठा अध्याय नवीन भाषाभिव्यंजना को केन्द्र में रखकर चला है। उपन्यास गद्य की विधा है। बहुत-से लोग पद्य की तुलना में गद्य को कुछ शुष्क या नीरस समझते है, परंतु यह भूलना नहीं चाहिए कि उपन्यास भी अंततोगत्वा तो कला ही है, अतः उसका गद्य भी विशिष्ट प्रकार का होगा। उसमें भी लालित्य हो सकता है, उसमें भी कविता हो सकती है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, मटियानी, रेणु आदि के औपन्यासिक गद्य मे भी आपको कविता का-सा आनंद आ सकता है। उक्त लेखकों के उपन्यासों को, इस दृष्टि से भी पढ़ा जा सकता है। कौन कहता है कि गद्य में अलंकार नहीं होते? कविता के या पद्य के सारे अलंकार यहां भी रह सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमने आलोच्य उपन्यास-त्रयी का इस दृष्टि से अध्ययन किया है कि उनका गद्य-लालित्य, उनकी गद्य कविता चाक्षुष व श्रुतिगम्य हो सके। इसके लिए हमने निम्नलिखित मुद्दों के तहत इनका अध्ययन किया है –

(1) नवीन रूपक, (2) नवीन उपमान, (3) विशेषण-विपर्यय, (4) नवीन विशेषणों के प्रयोग, (5) विशेषण-पदबंध, (6) नवीन क्रिया-रूपों का प्रयोग, (7) प्रतीकात्मकता, (8) सांकेतिकता, (9) मुद्रा अलंकार, (10) नवीन मुहावरे तथा कहावतें, (11) एब्सर्ड शैली का प्रयोग तथा (12) तकिया कलाम, इन उपादानों को

सामने रखकर आलोच्य उपन्यासों के उदाहरणों द्वारा यह प्रस्थापित करने का यत्न हुआ है कि इन उपन्यासों का गद्य काव्य-लालित्य की दृष्टि से भी आनंददायक है।

सप्तम् अध्याय उपसंहार (Epilouge) में समग्रावलोकन कि प्रक्रिया द्वारा समग्र शोध-प्रबंध का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए कतिपय निष्कर्ष निकाले गये हैं। शोध-प्रबंध की उपादेयता एवं भविष्यत् संभावनाओं को भी बहुत संक्षेप में संकेतित किया गया है।

अंततः यह शोध-प्रबंध विद्वानों-विदुषियों, सुधी जनों, सहृदय पाठकों, अनुसंधित्सु तथा साहित्य-रसिकों के सम्मुख है। अपनी सीमाओं, मर्यादाओं, अल्पज्ञता, प्रमाद प्रभृति से मैं भलीभांति परिचित हूं, अतः क्षतियों और कमियों के लिए क्षमस्व। किसी अनजान वनांचल से गुजरते हुए प्रायः यह अनुभव हमें होता है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं नये रास्ते, नयी पगडंडियां हमारे समक्ष खुलती जाती हैं। शोध-अनुसंधान का कार्य भी उसी प्रकार का है। प्रत्येक शोध-कार्य एक नया रास्ता खोल देता है। कहा भी गया है – "वादे वादे जायते तत्वबोधा :"।

हमारी परंपरा में माता-पिता का स्थान सबसे पहले आता है। गणेशजी ने माता-पिता की प्रदक्षिणा करके प्रमाणित कर दिया था कि माता-पिता की प्रदक्षिणा ही ब्रह्मांड की परिक्रमा है। अतः इस गुरु-गंभीर कार्य की समाप्ति पर सबसे पहले मैं अपने माता-पिता का आशीर्वाद लेना चाहती हूं। मेरे पिता डॉ. पारूकान्त देसाई तथा माता श्रीमती लीना चतुर्वेदी के मुझ पर असंख्य उपकार है जिनसे उऋण होना किसी भी संतान के लिए संभव नहीं है। एक ने ज़मीन दी है तो दूसरे ने पाखें। ये "Roots" और "Wings" बहुत जरूरी है व्यक्तित्व के विकास के लिए।

सास-ससुर भी मातृवत्-पितृवत् होते हैं। भारतीय परिवार-प्रणालि में उनका स्थान भी अक्षुण्ण होता है। मेरे ससुर श्री मणिभाई प्रजापति की यह दिली इच्छा थी कि मैं "डात्व" धारण करूं। सास मधुबेन का भी पर्याप्त प्रोत्साहन तथा साथ-सहयोग रहा। अतः मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा उनके प्रति निवेदित करती हूं।

भारतीय संस्कृति एवं परंपरा में गुरु को सबसे ज्यादा महत्व दिया गया है। कच्चे मृतिका-पिण्ड को घाट देने का कार्य तो वे ही करते हैं। गुरु का स्थान तो ईश्वर से भी एक बालिश्त उंचा है, क्योंकि ईश्वरत्व के दर्शन तो उनके जरिये ही होते हैं ऐसा

बाबा कबीर कह गए हैं। ब्रह्मा की भांति वह हमारा निर्माण करता है, विष्णु की भांति हमारा पोषण करता है और महेश की भांति वह हमारे बाह्य वा आंतरिक दोषों एवं अवगुणों का नाश करता है। अतः इस प्रसंग पर मैं अपनी गुरु-निर्देशिका डॉ. शन्नो पांडे को अपनी श्रद्धा-भक्ति निवेदित करती हूं, यद्यपि मैं निर्दिष्ट कर चुकी हूं कि हमारे सम्बन्ध गुरु-छात्रा के कम पारिवारिक सख्यता के ज्यादा है।

इस अवसर पर यदि मैं हिन्दी विभाग के गुरुजनों तथा प्राध्यापकों को भूल जाऊं तो मुझसे ज्यादा अकृतज्ञ कोई नहीं होगा। सर्व प्रथम मैं हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डॉ. शैलजा भारद्वाज के प्रति अपना श्रद्धा-भाव व्यक्त करती हूं। विभाग के अन्य प्राध्यापक-प्राध्यापिकाओं में डॉ. ओमप्रकाश यादव, डॉ. दक्षा मिस्त्री, डॉ. एन. एस. परमार, डॉ. कल्पना गवली, डॉ. कनुभाई निनामा, डॉ. अज़हर ढेरीवाला, डॉ. वामन अहिरे, डॉ. लता सुमन्त, डॉ. मनीषा ठक्कर, डॉ. जाड़ेजा, डॉ. मायाप्रकाश, डॉ. अनिता शुक्ला इन सबके प्रति अपनी श्रद्धा व स्नेह को व्यक्त करती हूं।

कला-संकाय के मेरे नामांकन के समय के प्राचार्य (Dean) डॉ. आर. जे. शाह साहब तो इतिहास में भी मेरे गुरु रहे हैं, अतः उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूं। वर्तमान समय के प्राचार्य डॉ. नीतिन व्यास साहब को भी मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करती हूं।

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के सभी गुरुजनों, विद्वानों, प्रोफेसरों तथा गुजरात बाहर के हिन्दी के विद्वानों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं।

मैंने अपने इस शोध-प्रबंध में जिन विद्वानों-विदुषियों के ग्रन्थों एवं लेखों का सहारा लिया है, उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

इस पूरी प्रक्रिया में जिन्होंने अपने धैर्य की परीक्षा दी है तथा बावजूद कई तकलीफों के मुझे निरंतर प्रोत्साहित किया है अपनी "Wings" के लिए वह मेरे पति महोदय डॉ. नीरव प्रजापति ओर्थोपेडिक सर्जन ही नहीं है एक बेहद अच्छे इन्सान और मित्र हैं, सच्चे जीवनसाथी हैं, उनको धन्यवाद ज्ञापित करना क्या उचित रहेगा?

मेरा आत्मज मास्टर मलयवर्द्धन और आत्मजा तूफानी बारकस जिया (जिगुड़ी) को मैं अपना असीम शब्दातीत भावातीत प्यार-दुलार देती हूं।

मेरे लाडले देवर जिसने अपने भ्रातृप्रेम में अपना नाम तक बिगाड़ लिया – मीरव ! और देवरानी को मैं कैसे विस्मृत कर सकती हूं? उनका हास्यबोध मेरी शक्ति को संबलित करता रहा है।

मेरी साथिन-सहेलियों (ममा के शब्दों में आयली-भायली) में श्रीमती रीना पटेल तथा श्रीमती निमिषा शाह की चुहलबाजियां मुझे निरंतर ऊर्जस्वित करती रही हैं, अतः इस अवसर पर उनका स्मरण मेरा धर्म है।

और "एट द लास्ट, बह मोट द लिस्ट" मेरी प्यारी-प्यारी बहनें, मेरे कलेजे की टुकड़ियां – कीर्तिदा और पायल – पर मैं अपनी समग्र भाव-राशि ऊंडेलती हूं। "मुझे चाँद चाहिये" पढ़ने की प्रेरणा तो कीर्ति ने ही दी थी। उनके उज्जवल भविष्य की मैं कामना करती हूं। कीर्तिदा का विवाह अभी दो वर्ष पूर्व ही संपन्न हुआ। मेरे प्रिय मित्रवत् बहनोई श्री. मृत्युंजय गौतम ( आई.आई.टी., कानपुर) बनारस-कुल-वल्लभ को मैं विस्मृत ही नहीं कर सकती, क्योंकि "काशी के अस्सी" में वह भी तो कहीं-न-कहीं होंगे।

समयावधि के कारण इस शोध-प्रबंध की कम्प्यूटर टंकण-क्रिया दो अलग-अलग स्थानों में हुई है। अतः उन दो बंधुओं-मित्रों भाईश्री मुकेशभाई तथा दीपकभाई को मैं साधुवाद देती हूँ जिन्होंने अपने अति-व्यस्त शिड्यूल से टाइम चुराकर मेरे कार्य को अंजाम दिया है।

और इस रूपरेखा के अत में आते-आते मेरी आंखें पूरनम हो जाती है, दर्द का एक दरिया जमीर में धंस जाता है कि मेरा लाड़ला एक मात्र भाई, मेरी मां का 'राजा बेटा' (मेरे पापा का भांजा, पर उसे वह अपना पुत्र ही मानते थे) अब 'श्री' नहीं 'स्व.' हो गया। उसकी कमी समग्र "देसाई-परिवार" को झकझोरती रहेगी। काश ! इस समय वह होते। परम परमात्मा उनकी आत्मा को शांति दे यही प्रार्थना।

मेरा यह शोध-कार्य भविष्यत् अनुसंधित्सुओं को किंचित मात्र भी आलोक प्रदान करेगा तो मैं अपने इस सारस्वत-श्रम को सार्थक समझूंगी।

और अंत में प्रतिबद्ध मंचन के पुरस्कर्ता ब्रेश्ट की कविता 'ड्रामानिगार का नग्मा' की निम्न पंक्तियों के साथ विरमती हूं ---

" मैं हूं नाटककार,

दिखाता हूं

जो मैंने देखा है,

देखा है मैंने

कैसे इन्सान को बेचा जाता है

इन्सान के बाज़ारों में

मैं वही दिखाता हूं......"

नूतन वर्ष के स्वागत में

दिनांक : 8-11-2011

विनीत,

P.P. Desai

पूरबी पारूकान्त देसाई,
शोध-छात्रा, हिन्दी विभाग
म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

---: इति शुभम् :---

*      *      *